भारत-भूमि

डा० सत्यनारायण

प्रकाशक
हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय
चारबाग, लखनऊ

निवेदन

यह पुस्तिका वास्तव में 'हमारा देश' का प्रथम अध्याय है। इस पूरे अध्याय में अपने देश की भौगोलिक परिस्थिति का वर्णन है। कई दृष्टियों से विचार करने पर इसका स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में भी संस्करण करना उपयोगी दिखाई देता है।

अपने यहाँ साधारणतया पहाड़, नदी, शहरों आदि के नाम गिना कर ही भूगोल का अध्ययन पूर्ण समझा जाता है। पर ऐसा होना नहीं चाहिए। आकाश, पहाड़, मिट्टी, जल, नगर, ग्राम, लोकसंख्या आदि को हम जिस सीमा तक 'जड़' समझते हैं, असल में वे वैसे हैं नहीं। उनका संबंध हमारी सभ्यता, संस्कृति हजारों वर्ष के सुखदुख, हमारे इतिहास के उत्थान-पतन के साथ बहुत गहरा है। वे सब चीजें हमारे अनजान में ही बहुत हद तक हमारा जीवन निर्धारित किया करती हैं। उन सब के भीतर सचमुच हमारी मातृभूमि का चेतन रूप छिपा है। इसीलिए कवि ने गान किया है—

'ओ आमार देशेर माटी
तोमार पाए ठेकाई माथा।
तोमाते विश्व-माएर
आँचल पाता ॥

और यही सत्य पूर्ण रूप से उपलब्ध करने पर ही हम कह उठते हैं—

'सार्थक जनम आमार,
जन्मेछि ए देशे,
सार्थक जनम मागो
तोमाए भालोबेसे ॥'

× × × ×

पुस्तक की त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

असल में मैं अपनी मातृभूमि का चेतन स्वरूप देख पाने की कोशिश में हूँ। शायद इस दृष्टिकोण की कुछ झलक आगे के पृष्ठों में मिल जाए। यदि यह 'बानगी' पसंद की गई तो शीघ्र ही इसी ढंग पर अपनी मातृभूमि का एक ख़ाका, चित्रों और नक्शों के सहित, तैयार कर सेवा में उपस्थित होऊँगा।

पटना

मार्च, १९४६ सत्यनारायण

सूची

भूल-सुधार

पृ० ९ की आठवीं लाइन में '*गर्भश्रृङ्खला*' के स्थान पर '*गर्मश्रृङ्खला*' और पृ० २८ की दसवीं लाइन में '*अभिसार*' की जगह '*अमिसार*' भूल से छप गया है। प्रूफ़ की और भी गलतियों के लिए क्षमा चाहता हूँ।

भारतभूमि

मातृभूमि की कहानी

प्रकृति महान् कलाकार है। मूर्तिनिर्माण कला में तो वह अद्वितीय है। इस धरातल के नाट्यमंच पर मालूम नहीं वह कितनी तरह की चित्र-विचित्र मूर्तियाँ गढ़ा करती है। हमारी मातृ-भूमि की विराट् मूर्ति भी उसी के द्वारा निर्माण की गई है। प्रकृति के इस निर्माण-कौशल के सिलसिले में ही हमारे देश के स्थूल-पट पर हमारी मातृभूमि की कहानी भी अंकित होती गई है।

जहाँ आज हिमालय पर्वतमाला है वहाँ एक समय समुद्र था। उसका नाम विशेषज्ञ 'टेथिस-सागर' देते हैं। उसकी चौड़ाई कम से कम साढ़े चार सौ कोस थी। उसके दक्षिणी तट पर आज जहाँ कश्मीर और आसाम हैं उन दिनों कुछ भूमि थी, बाकी समुद्र था। धीरे-धीरे उस समुद्र का तल ऊपर उठा। उसी उठे हुए समुद्र-तल ने आज हिमालय पर्वत का रूप ले लिया है।

हिमालय के उठने से उसके नीचे, दक्षिण की भूमि दबती गई। उस भूमि पर समुद्र ही लहराता रहा। वह समुद्र आसाम की तलहटी से लेकर सिन्ध तक जाता था। उसके दो हिस्से थे—एक पूर्वी और दूसरा पश्चिमी[1]। पूर्वी समुद्र आज के सारे युक्तप्रांत और बिहार को ढँकता आसाम तक चला गया था। इसमें गंगा-यमुना गिरती थीं। जहाँ आजकल राजपुताना है वहाँ पश्चिमी समुद्र था। उन दिनों सरस्वती नदी इसी समुद्र में गिरती थी। इस पश्चिमी समुद्र का विस्तार दक्षिण-पूर्व में अरवली पहाड़ तक था, पश्चिम में यह अरब सागर से मिला हुआ था। अरवली और विन्ध्य पर्वतमालाएँ अवश्य ही बहुत पुरानी हैं। दक्षिण की भूमि भी उत्तर-भारत की भूमि की अपेक्षा पुरानी है। और भी पश्चिम के अरब सागर से जिसमें सिन्धु गिरती थी, अलग करने के लिए अरवली से सटे समुद्र को दक्षिणी-समुद्र कहा जा सकता है।

इस दक्षिणी-समुद्र और उत्तर में हिमालय के बीच जो

---

१ ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र में दोनों समुद्रों का उल्लेख मिलता है :—

वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः।
उभासमुद्रावाक्षेति यश्चपूर्व उतापरः॥
(ऋ० १०—१३६, ५)

वायुभोक्ता, द्योतमान सूर्य जैसे रूपवाले, वायु के सखा मुनि—(करिक्रत नाम के ऋषि) दोनों समुद्रों के पास जाते हैं। कौन दोनों समुद्र, वह जो पूर्व में है और दूसरा जो पश्चिम में है।

प्रदेश था वहीं वेदों के अनुसार आर्य लोग रहते थे। इसके पहाड़, इसकी भूमि, इसकी नदियाँ उन्हें बहुत प्यारी थीं। यहीं उनकी संस्कृति का उदय और विकास हुआ। इसी प्रदेश का नाम उन्होंने 'सप्तसिंधव' दिया था।

जिन सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्तसिंधव पड़ा था वे थीं—सिन्धु, विपाशा (व्यास) शुतुद्रि या शतद्रु (सतलंज), वितस्ता (झेलम) असिक्नी (चनाब), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। यह सप्तसिंधव प्रायः वही प्रदेश है जिसका नाम आजकल पंजाब-कश्मीर है।

गंगा और यमुना उन दिनों सप्तसिंधव के बाहर थीं। प्राचीन वैदिक काल में उनका आज जैसा महात्म्य भी नहीं था। उन दिनों सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था। वेद-मंत्रों में सिन्धु को सीधे बहनेवाली, श्वेत वर्ण, दीप्यमाना, वेगवती, अहिंसिता और नदियों में श्रेष्ठ नदी कहा गया है।[२]

सरस्वती उन दिनों महा नदी थी। ऋग्वेद में उसके संबंध में कहा गया है—

'नदी के रूप में प्रकट होकर सरस्वती ने ऊँचे पहाड़ों को अपनी वेगवान् विशाल लहरों से इस प्रकार तोड़-फोड़ डाला

---

२. ऋग्वेद के दशम मंडल के पचहत्तरवें सूक्त में सिन्धु की महिमा गान की गई है।

है जैसे जड़ों को खोदने वाले मिट्टी के ढेरों या टीलों को तोड़ डालते हैं।......देवगण घुटने टेक कर उसके पास आवें।'[३]

इन्हीं नदियों के तट पर प्राचीन आर्यों की बस्तियाँ थीं और ऋषियों के तपोवन थे।

वैदिक आर्यों ने सप्तसिंधव में रहते हुए अपने पूर्व और दक्षिण की ओर समुद्र देखा था। उनका अफगानिस्तान के पश्चिम के किसी देश से परिचय नहीं था और न उनको गंगा से पूर्व के भूभाग का पता था। उनके समय में गंगाजी अपने स्रोत से निकलने के थोड़ी ही दूर बाद 'पूर्वी समुद्र' में मिल जाती थीं। उनकी धारा ही आर्यों के पूर्वी विस्तार की सीमा थी। उन आर्यों के सामने ही गंगा की धारा पूर्व की ओर मुड़ी और धीरे-धीरे समुद्र की जगह मनुष्य के बसने योग्य भूमि पड़ी। भूगर्भ शास्त्र के अनुसार, हमारी मातृभूमि की बनावट की यह कहानी आज से पच्चीस हज़ार वर्ष पहले और पचास हज़ार वर्ष से इधर की है।[४]

---

३. ऋक् ६—६१, २—१२; ७—९५,४ आदि मंत्र।

४. इस संबंध में विशेष जानकारी के लिए श्री सम्पूर्णानंद लिखित 'आर्यों का आदि देश' देखना चाहिए। इस पुस्तक में मैंने उनका ही अनुकरण किया है। उनके बहुत से उद्धरण विषय से संबंध रखते स्थानों पर ज्यों के त्यों दे दिए गए हैं। मैं उनका बहुत ऋणी हूँ।

साथ ही श्री अविनाश चंद्र दास लिखित 'ऋग्वेदिक इण्डिया' और 'करेंट सायन्स' (अगस्त १९३६) डा० बीरबल साहनी तथा 'जिआलोजी आव इण्डिया' में वाडिया का वर्णन देखना चाहिए।

इस लंबे काल के बीच बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। पहले ब्रह्मपुत्र से सिन्धु तक एक नदी-माल बना हुआ था। इसीलिए भूगर्भ-पंडितों की भाषा में उसका नाम 'सिन्धु-ब्रह्म' है। फिर बीच की भूमि उठ जाने से वह माला टूट गई। सप्तसिंधव वा पंजाब की नदियाँ सिन्धु में मिलीं। पूर्व की नदियाँ प्रवाह की दिशा बदल कर पूर्ववाहिनी हो गईं। समुद्र ज्यों-ज्यों हटता गया गंगा और यमुना त्यों-त्यों आगे बढ़ती गईं। भूमि पटती गई। फिर यमुना भी गंगा में आ मिलीं। गंगाजी सागर से मिलने के लिए कई सौ कोस चलकर गंगासागर तक चली गईं। 'पूर्वी-समुद्र' के हटने के बाद ही ब्रह्मपुत्र नदी भी आसाम के मार्ग से आकर गंगा में आ मिली।

इधर दक्षिणी समुद्र भी सूखा। लहरों की जगह रेत ने ली। पूर्व में गंगा, यमुना जैसी नदियों ने हिमालय से मिट्टी ला आज के युक्तप्रांत, बिहार और बंगाल की सृष्टि की थी, पर दक्षिण में ऐसा कुछ नहीं हुआ। यहाँ हिमालय की मिट्टी न पड़ सकी, समुद्र-जल के नीचे का सिर्फ बालू ही बालू रह गया। उस जमाने के समुद्र की यादगार में अब सिर्फ सांभर झील रह गयी है, नहीं तो बाकी प्रदेश राजपुताने का रेगिस्तान बन गया है। उस समुद्र में गिरने वाली 'महान् हलचल का समुद्र, समुद्र के समान गंभीर, शब्दमयी, तेजस्विनी, सामर्थ्यवाली'

सरस्वती अब एक छोटी-सी नदी रह गई है, जो राजपुताने की रेत में आकर समाप्त हो जाती है। अब उसका पुराना नाम भी लोप हो चला है। उसके निचले भाग को अब लोग घग्घर कहते हैं जो दृशद्वती के लिए भी आता है।

हमारी मातृभूमि की रूप-रेखा में इस बीच और भी बहुत-से परिवर्तन हुए हैं। प्रकृति ने इन्हें और भी सुन्दर सुडौल गढ़ने की चेष्टा की है। इसके लिए उसे यहाँ की कुछ नदियों के मार्ग बदलने पड़े हैं। थोड़ा बहुत परिवर्तन अब भी जारी है। हिमालय का उत्थान अभी रुका नहीं है। नदियाँ अब भी मिट्टी-कंकर का ढेर लाकर अपने किनारे की भूमि ऊँची करती जा रही हैं।

ऋतु की तीव्रता में भी हेरफेर हुआ है। सप्तसिंधव शीत प्रधान था। सर्दी कड़ी पड़ती थी। वर्षा भी खूब होती थी। इसके मुख्य कारण अवश्य ही सप्तसिंधव की सीमा पर के समुद्र थे। उन समुद्रों से भाप बनकर पहाड़ों पर बर्फ जमती थी, वर्षा होती थी और नदियाँ 'समुद्र का रूप' धारण करने के लिए तुली रहती थीं।

पर आज उस प्रदेश में वे बातें नहीं हैं। सप्तसिंधव की सीमा पर के समुद्र सूख गए हैं। एक ओर के समुद्र का स्थान मरुभूमि ने ले लिया है, इस कारण वहाँ की ऋतु बदल गई है। अब पंजाब में जाड़े के दिनों में जैसी कड़ी सर्दी

पड़ती है, गर्मियों में गर्मी भी वैसी ही कड़ी रहती है। आजकल पंजाब में वर्षा भी साधारण हो गई है। ये परिवर्तन अवश्य ही भौगोलिक स्थिति पलट जाने के कारण आ गए हैं।

पर ये सब परिवर्तन प्रकृति की निर्माण-कला के ख्याल से छोटी बातें हैं। पचीस-तीस हज़ार वर्ष पहले उसने हमारी मातृभूमि का जो स्वरूप गढ़ दिया था आज भी वह प्रायः वैसा ही है।

हिमालय की देन

ध्यानमग्न योगिराज की मुद्रा। जप के लिये गले तथा हाथों में नदियों की मालायें। सनातन हिम-मुकुट में हजारों हीरों की चमक। जराहीन। सदा निर्भय। आदमियों की पहुँच के बहुत ऊपर।

ये गगनचुम्बी शानदार शृङ्ग अपनी महानता का सानी नहीं रखते। मालूम पड़ता है जैसे महादान करते रहना ही उन्होंने अपना आदर्श बना रखा है। हमारी मातृभूमि तथा हम स्वयं उनके बहुत बड़े ऋणी हैं।

मौसिम साफ रहने पर पचीसों कोस दूर से ही वे हमें दिखाई देते हैं। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि एक के पीछे दूसरे खड़े गिरिशृँखल उत्तरोत्तर ऊँचा मस्तक उठाए हमें ही देख रहे हैं। उन शृँखलाओं का कहीं भी अंत होता नही दीखता। जहाँ उन्हें क्षितिज आलिंगन करता है वहाँ वे शास्वत हिम से ढके रहने के कारण दूध से धुले दीखते हैं।

उन्हें देख कर ही हम पहचान लेते हैं कि हमारे सामने हिमालय है।

वे हमें बुलाते-से जान पड़ते हैं। उनकी ओर आगे बढ़ने पर हमें गिरिशृंखलाओं की ही सीढ़ियाँ मिलती हैं। शिवालिक पहाड़ियों जैसी उपत्यका-शृंखला पहली सीढ़ी रहती है। कांगड़ा कुल्लू की धौलाधार जैसी छोटी हिमालय-शृंखलाएँ दूसरी सीढ़ी बनती हैं। उन्हें पार कर जाने पर हम हिमालय की गर्भ शृंखला पर पहुँचते हैं। वहीं हमें बदरिकाश्रम मिलता है। और आगे बढ़ने पर हम लदाख शृंखला लांघते हैं। उसके आगे हमें कैलाश दिखाई देता है।

उस पर दृष्टि पड़ते ही हमारी आँखें चकाचौंध होने लगती हैं। हमें वहाँ विभिन्न मुद्राओं में स्वयं नटराज नृत्य करते-से दिखाई देते हैं। कहीं वे मुकुट पहने, कहीं जटा बढ़ाए और कहीं कन्धे और शरीर से 'सर्प' लिपटाए रहते हैं। उनके नृत्य के ताल में बजने वाले यंत्रों की झंकार भी हमें सुनाई देती है। बादलों का वस्त्र वे कभी अंग पर डालते, कभी हवा में हिलाते और कभी अपने नीचे बिखेर देते हैं।

हम और दिशाओं में भी दृष्टि दौड़ाते हैं। अब हमें विश्वास हो जाता है कि हमारे देश के उत्तरी छोर पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक सीमा निर्धारित करनेवाला हिमालय वास्तव में ही 'मर्यादा पर्वत' है। वह हमारी मातृभूमि का

सदा सजग रहने वाला संतरी है। खास-खास नाकों पर वह अपना मस्तक पाँच साढ़े पाँच मील से भी ऊपर उठाए रखता है।

गरमी में समुद्र से जो भाप बादल बनकर ऊपर उठती है वह भी हिमालय की आँख बचा हमारे देश की सीमा के बाहर नहीं निकल पाती। बादल चाहे जितना भी ऊँचा उठें हिमालय की महानता के सामने उन्हें हार मानना ही पड़ता है। उसकी अचल, अटल विशालता के सामने बादलों का दर्प चूर्ण हो जाता है। वे वर्षा के रूप में आँसू टपकाते लौट पड़ते हैं।

कुछ बादल हिमालय की गोद में बंदी हो जाते हैं। उन्हें हिम के रूप में परिणत कर पर्वत अपना मुकुट बना लेता है। यह मुकुट, उसकी नंगा पर्वत, केदारनाथ, नन्दादेवी, कैलाश, धौलगिरि, गौरीशंकर, कंचनजंघा, जैसी चोटियों पर सनातन रहता है।

प्रकृति समुद्र और हिमालय को एक दूसरे पर बादल और वर्षा के रूप में पानी उछालते और उड़ेलते रहने के जिस खेल के लिए प्रेरित किये रहती है, उसीसे हमारी मातृभूमि का तथा हमारा जीवन निर्धारित होता है। उसीसे हमारे यहाँ की सर्दी-गर्मी और बरसात की ऋतुओं का आविर्भाव होता है, हमारी खेती-बारी चलती है और हम जीवन के सुख उपभोग करने में समर्थ होते हैं।

हिमालय के और कार्यों से भी उसके महादान का ही प्रयोजन सिद्ध होता है। गरमी पाकर जब उसके अंग का हिम पिघलता है तब उसका महान् आदर्श ही प्रवाह का रूप धारण कर लेता है। वे प्रवाह उस महादानी हिमालय का धन दोनों हाथों से बिखेरती जाने वाली नदियों के रूप में परिणत हो जाते हैं। वे नदियाँ हिमालय पर के 'नटराज' के नृत्य में संगति मिलाती निकलती हैं। सिन्धु और सतलज तबले के दाएँ बाएँ जैसी ध्वनि निकाल सृष्टि का ताल देती हैं। ब्रह्मपुत्र-नदी पत्थरों पर प्रहार दे डंके की चोट भरती है। यमुना और सरयू गोमती तथा गंगा को बीच में ले, गुन-गुन, छम्-छम्, झम्-झम् करती उतरती हैं। इनके साथ-साथ और भी जितनी धाराएँ हिमालय के मुकुट, जटा और शरीर से निकलती हैं उन सब के कलगान में हमारी प्राचीनतम अतीत-गाथा के साथ-साथ नए जीवन का संदेश भरा रहता है। ये नदियाँ ही अपने साथ हिमालय द्वारा दान की गई मिट्टी बहा कर लेती आती हैं जिनसे हमारे देश के विशाल मैदानों का निर्माण हुआ और आज भी हमारी भूमि ऊँची और उपजाऊ बनती है। उन नदियों का संदेश होता है—हमारे देश का कल्याण। वे ही हमारे खेतों को सींचतीं और अपने साथ-साथ हमारे लिए भी यातायात के प्रमुख रास्ते बनाती जाती हैं। हिमालय उन्हीं के द्वारा हमारे विभिन्न प्रदेशों को

शस्य-श्यामल और धन-धान्य-सम्पन्न बनाया करता है।

यदि सच में देखा जाए तो हमारे देश के उत्तरी भाग के वे सब विशाल खादर प्रदेश जिनकी गिनती दुनिया भर के सबसे उपजाऊ और आबाद प्रदेशों में होती है, हिमालय की ही देन हैं। उसके इन्हीं गुणों के कारण महाकवि कालिदास ने उसे कहा है—'अनेक-रत्न-प्रभव'।

हमारी मातृभूमि को अद्भुत सौन्दर्य उसी हिमालय ने प्रदान किया है। इसका जीवन और यौवन भी उसकी ही देन है।

मातृभूमि का स्वरूप

प्रकृति सजाना भी जानती है। उसकी इस कला का चमत्कार देख कर अच्छे-से-अच्छे कलाकार को भी दंग रह जाना पड़ता है। आदमी प्रकृति की उन सजावटों की क्षुद्र नकल भर कर सकता है, अपनी कृति में उसकी तरह निर्माण वा वास्तविक प्राण प्रस्फुटित कर दिखलाना मनुष्य की क्षमता के बाहर की ही बात रह जाती है।

अपनी मातृभूमि के मानचित्र पर दृष्टि जाते ही हमें प्रकृति की यह सुन्दर कृति मुग्ध कर देती है। अपनी दृष्टि अत्यंत क्षुद्र एवं सीमित रहने के कारण प्रकृति के इस प्रकांड कौशल की पूरी झाँकी हम एक साथ एक ही दृष्टि में पा लेने में असमर्थ रहते हैं। इसके लिए हमें कल्पना का सहारा लेना पड़ता है।

थोड़ी देर के लिए यदि हम आकाश में उस ऊँचाई पर पहुँच सकें जहाँ से सारा भारत हमारे सामने की दृष्टि में आ

जाए और हमारी दृष्टि प्रकृति द्वारा निर्माण की गई इस देश के ढाँचे की सूक्ष्म बारीकियों को भी देख पाने में समर्थ हो सके, तो अवश्य ही हमें अपनी मातृभूमि के सौन्दर्य का थोड़ा आभास मिल सकेगा। उस ऊँचाई से वे हमें अपने पूर्ण विकसित सौन्दर्य में चिरयौवना दीखेंगी। उनके किसी भी अंग में कमनीयता का अभाव खटकता नहीं दिखाई देगा।

भारतमाता का सौन्दर्य वास्तव में जीवित-जागृत है। उनकी शक्ल और आकृति की रेखाएँ बहुत ही बारीक हैं। प्रकृति ने उन्हें तरह-तरह के वस्त्र पहनाने के बाद रंग-बिरंगे शाल-दुशालों से सुसज्जित कर रखा है। उन्हें किस्म-किस्म के रत्नजटित आभूषणों से सुशोभित करना भी वह भूली नहीं है।

हिमालय तथा उससे लगे हुए हमारे देश की पश्चिमी तथा पूर्वी सीमा पर के पहाड़ भारतमाता के कंधे और अंग पर पड़े शाल के समान हैं। माता के मुख-मंडल की दाहिनी ओर हिमालय से जुड़े हिन्दूकुश, सुलेमान और कीर्थल पर्वत का तांता अरबसागर तक पहुँचता है और वह माता के वक्षस्थल तक झूलते शाल के हिस्से-सा दीखता है। बाँई ओर यह शाल कई तह में पंद्रह सौ मील तक पड़ा रह कर फिर नीचे की ओर झूल पड़ता है। इस पूर्व दिशा में हिमालय से कंधा भिड़ाए नामकिऊ, पटकाई और आराकान योमा बंगाल की खाड़ी तक

लटकते हैं और माता के अंग का पहाड़ी शाल उनकी कमर तक पहुँचा देते हैं।

इस अनेक तह वाले विचित्र शाल के पाढ़ों पर भी सुन्दर चूड़ीदार नक्काशी है। कंधे पर के ऊपरी हिस्से में हिम-रेखा की सफ़ेद धारी लगातार लगी चली गई है। उसमें मणि मुक्ताओं की धारी से भी कहीं अधिक चमक और पानी है। शाल की निचली तह तथा दोनों ओर लटकने वाले छोरों में तुषाररहित पर्वतमालाओं की सुनहली-रुपहली, सब्ज तथा गेरुए रंग की धारियाँ हैं।

उस शाल की तह की एक पतली नीली धारी सिन्धु और ब्रह्मपुत्र की धाराएँ बनाती है। कैलाश से ये दोनों दो विपरीत दिशाओं में सात-आठ सौ मील की यात्रा कर एकाएक दक्षिण की ओर मुड़ जाती हैं। जहाँ इन दोनों नदियों की मोड़ें हैं उन्हें ही आधुनिक विद्वान हमारे देश की पश्चिमी और पूर्वी सीमा मानते हैं।

इस मनोहर धारीदार शाल-आवरण के नीचे सुन्दर ढंग से सीटा हुआ भारतमाता का सब्ज रंग का दामन है। इस दामन के रंग का ही उनका आँचल भी है, जिसके एक खूँट पर काठियावाड़ और सिन्ध हैं तथा दूसरे पर बंगाल। आँचल का यह दूसरा खूँट जहाँ पर समाप्त होता है वहाँ उसमें सुन्दर-वन झालर की तरह लगा दीखता है। मातृभूमि का यह दामन

और आँचल उत्तर भारत के सारे खुले विस्तृत मैदान से बना है। यहाँ की हरियाली क्षितिज से मिली रहती है। इस आंचल को प्रकृति जितने यत्न और कौशल से सदा हरा भरा बनाए रख सँवारा और लहराया करती है, पृथ्वी के और विरले ही किसी भाग के मामले में उसका वैसा अनुग्रह दिखाई देता है।

भारतमाता के कटि पर विन्ध्य-मेखला कमरबंद की तरह लगा है। अरवली और सातपुरा पहाड़ इस मेखला के ही बढ़ाव हैं। इनकी शृंखलाएँ पश्चिम में आबू से लेकर पूर्व में पारसनाथ तक चली गई हैं। उत्तर में उनका विस्तार गंगा-काँठे तक और दक्षिण में ताप्ती और महानदी की धारा तक है। माता के इस कटिबंध प्रदेश का सौन्दर्य एक और ही ढंग का है। यह खेती की उपज में उत्तरी अंचल का मुकाबला नहीं करता पर जंगल और खानों की उत्पत्ति में विशेष महत्व रखता है। शाल, टीक और बाँस के वनों का यहाँ बाहुल्य है। इसके सिवा इस प्रदेश में छोटी छोटी झाड़ियों की भरमार है। जब उनके खिलने का समय होता है, उनमें इतने भाँति के फूल लगते हैं कि उनके रंगों की बहार दर्शनीय हो जाती है। यहाँ के जिस अंचल में कपास की खेती होती है उसमें भी कम सौन्दर्य नहीं रहता। नीचे भूमि पर यदि बिना पत्तों के पौधों पर कपास खिला रहता है तो उनके ऊपर मखमली पत्तों से

सुसज्जित पलाश के गुच्छे हमेशा गुलाबी चँवर डुलाने से दिखाई देते हैं।

हिमालय की तरह विन्ध्य की पहाड़ी शृंखलाएँ बराबर धारियों वाली नहीं हैं। बहुत ऊँचे से देखने पर इसकी शृंखलाएँ समुद्र की लहरों की तरह लहराती दिखाई देंगी। पर्वत की उस भाँति समुद्र बनने की चेष्टा उसमें अद्भुत प्राण ला देता है और विन्ध्य का अपना निजी ढंग का सौन्दर्य अद्वितीय बना देता है।

विन्ध्य-मेखला से दक्षिण के प्रदेश भारतमाता के कटि से लेकर तलवे तक का निचला भाग बनाते हैं। पश्चिम में कोंकण और केरल प्रदेशों की सब्ज साड़ी की तह से ढँके पश्चिमी घाट और पूर्व में नदियों के मुहानों से उर्वरा बने अंचलों के साथ पूर्वी घाट की शृंखलाएँ एक दूसरे के निकट आते-आते नीलगिरि पर मिल गई है। इस मेल से बना ऊँचा प्रदेश मैसूर है। इसके दक्षिण का प्रदेश—केरल तथा चोल-मंडल के बीच का मलय पर्वत भारतमाता के चरण के समान है।

उसके दक्षिण, हमारे देश का सब से अंतिम दक्षिणी छोर कन्याकुमारी का अंतरीप माता के अंगूठे के समान है। यहाँ पहुँच जाने पर हम सचमुच अपने को माता के चरणों में बैठा पाते हैं। हमारे चारो तरफ़ अगाध जीवन निखरा है।

नारियल और असंख्य तालवृक्षों से समुद्र-तट सुसज्जित है। यहाँ ही हमारे देश को हरियाली समुद्र और आकाश की नीलिमा से मिलकर अद्भुत सौन्दर्य सृष्टि करती है। यहीं अरबसागर और बंगोपसागर का संगम है। ये दोनों हमारी मातृभूमि के युगल चरण कमलों की सतत पूजा करते रहते हैं।

मातृभूमि के उन्हीं पाँवों के पास सिंहलद्वीप कमल की कली की तरह खिला दीखता है। रामेश्वरम् के आगे सेतुबंध की चट्टानों का सिलसिला इस द्वीप तक लगा है। इस कमल-कली सरीखे सिंहल को भी प्रकृति का प्रचुर दान मिला है। वह हमारी मातृभूमि का काव्यमय सौन्दर्य परिपूर्ण बना देता है।

हमारे देश का दक्षिणी भाग सुहावना रहने के साथ-साथ कई दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। उत्तर भारतीय मैदान की तुलना में इस अंचल के मैदान अवश्य ही बहुत छोटे हैं, फिर भी उनके कई अंश बड़े उपजाऊ हैं। दक्खिनी हिस्से के मध्यभाग—बरार और खानदेश की काली मिट्टी कपास की खेती के लिए आदर्श मिट्टी है। कोंकण और केरल के प्रदेश भी सदा हरे-भरे रहने वाले हैं। मौनसून के महीनों में अरब सागर का जो पानी भाप बन कर चलता है वह पश्चिमी घाट के पहाड़ों से टकरा कर पीछे लौट आता है और वहीं कोंकण

तथा केरल प्रदेश को हरे-भरे बाग का स्वरूप दे देता है।

जहाँ तक भूभाग के रमणीक होने का प्रश्न है, भारत के दक्षिण-पश्चिम कोने में बसा केरल प्रदेश अतुलनीय है। यहाँ के झील, नदी और हरे-भरे पहाड़ों पर इन्द्रधनुष बड़े ही मनोरम रंग-बिरंगे खेल दिखाया करता है। नारियल और केले के सिवा लौंग, इलायची आदि मसालों के हरे-भरे पौधों का अपना निजी सौन्दर्य हमें यहीं दिखाई देता है। इनके पड़ोसी-मलयगिरि पर के चंदन और कपूर के जंगल अपना सुवास चारों तरफ फैलाते रहते हैं। जब हम चाँदनी रात में यहाँ की झीलों को पार करते हुए आगे बढ़ते हैं और हमारी नाव पेड़ों से घिरे दोनों किनारों के बीच से निकलती है तो हमें वह सब एक तरह का सुन्दर स्वप्न सा लगने लगता है।

चोल मंडल तट को भी उपजाऊ बनाने में प्रकृति ने कुछ उठा नहीं रखा है। दक्षिण भारत की सब प्रधान नदियों का मुहाना इसी तट पर है। उन नदियों से जो मिट्टी पड़ती है उससे यहाँ की उर्वरा-भूमि बनती है और वह उन्हीं नदियों के जल से सिंच कर खेतीबारी के लिए आदर्श जमीन बन जाती है। दक्खिन-पश्चिमी मौनसून का यहाँ अवश्य ही अभाव है पर यह कभी उत्तर-पूर्वी झोंके से पूरी हो जाती है। वह झोंका दिसंबर-जनवरी के महीने में इस प्रदेश के लिए तरावट लेकर हिमालय से उतरता है। वही तरावट यहाँ के धान की

पैदावार में सहायक होता है और अनेक किस्म के तालवृक्षों से इस अंचल को सुशोभित किए रहता है।

इसके सिवा कीमती धातुओं की उत्पत्ति के खयाल से भी दक्षिण बहुत अधिक महत्त्व रखता है। यहीं की खानों की उत्पत्ति के कारण एक जमाने में भारतवर्ष की ख्याति समृद्धि और धनराशि के मामले में समुद्र-पार के बहुत से देशों तक फैली हुई थी। सारे संसार में विख्यात हीरे गोलकुण्डा की खानों से अब नहीं निकलते, पर मैसूर रियासत स्थित कोल्हार की सोने की खानें आज भी प्रसिद्ध हैं। भारत माता के इन सुवर्ण आभूषणों से हमारी माताएँ और बहिनें बहुत दिनों से अपना अंग सजाती आ रही हैं।

इस भाँति जब हम एक दृष्टि में ही अपनी मातृभूमि का पूरा स्वरूप देखने की चेष्टा करते हैं तो वे हमें एक विशेष मुद्रा में खड़ी दीखती हैं। उनका उज्ज्वल मुख-मंडल कान्ति और तेज से ओतप्रोत है। पामीर के पठार से बना शुभ्रतुषार का मुकुट उनके माथे पर सदा विराजमान रहता है। उनका दाहिना हाथ हमें अभय देता और बाँया हमें आलिंगन कर उपहार देने की मुद्रा में खुला दीखता है। गंगा के मुहाने पर की जलधाराएँ उनके उपहार देने वाले हाथ की उँगलियाँ जैसी मालूम पड़ती हैं। उनके चरण समुद्र में खिली 'कमल कली' छूते रहते हैं।

हमारी मातृभूमि के इस सौन्दर्य की स्तुति में ही रवीन्द्रनाथ ने गाया है :—

अयि भुवनमनमोहिनी
जगत जननी जननी—
नील सिन्धु-जल धौत चरण तल,
अनिल विकंपित श्यामल अंचल,
अंबर चुंबित भाल हिमाचल,
शुभ्र - तुषार किरीटिनी।
प्रथम प्रभात-उदित तव गगने,
प्रथम साम-रव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तब वन भवने,
ज्ञान, धर्म, श्रुति, नीति, काहिनी ॥
अयि भुवनमनमोहिनी
जगत जननी जननी—
चिर कल्याणमयी तुमि धन्य,
देश - विदेशे वितरिछ अन्न
जाह्नवी-यमुना विगलित करुणा,
पुण्य पियूष-स्तन्य वाहिनी।
अयि भुवनमनमोहिनी
जगत जननी जननी—

हमारे जीवन-स्रोत

नदियाँ ही हमारे जीवन का रास्ता दिखलाने वाली रही हैं। हमारी सभ्यता का उदय इन्हें कई विस्तीर्ण शस्य-श्यामल उर्वरता की जननी—नदियों के ही किनारे हुआ है। मस्तिष्क तथा हृदय की शक्तियों का समन्वय करनेवाली और उन्हें विकास की ओर ले जाने वाली संस्कृति की भी वे ही जननी रही हैं।

मानव समाज की सब तरह की सभ्यता और संस्कृतियों का स्रोत हम नदियों से ही निकलता पाते हैं। होआङ्हो और याङ्चेक्याङ् नदियाँ चीनी; दजला और फ़रात फारसी; तथा नील नदी मिस्र की सभ्यता और संस्कृति के उद्भव-स्थान हैं। ठीक इसी भाँति सिन्धु और गंगा जैसी धाराओं ने हमारी सभ्यता और संस्कृति को अमरता प्रदान की है। हमारे पूर्वजों ने उनके ही किनारे खेती करना सीखा। उनके ही किनारे हमारी प्रारंभिक बस्तियाँ बसीं। उनके बहाव के रुख

ने ही प्रमुख रास्ते तैयार किये और हमारे प्रसार की दिशा निधारित की। आज भी उनके ही उमड़ते शीतल प्रवाह में अवगाहन कर हम प्राणों का नया स्पंदन पाते हैं।

अपने देश के इन जीवन-स्रोतों की अमरदेन की जानकारी के लिए उनके प्रवाह के साथ चल कर उनसे विशेष परिचय कर लेना आवश्यक है। उनके उद्भव-स्थान की यात्रा करते समय हमें अपने सामने दिखाई देते हैं—हिम के सफेद शाल अंग पर डाले पहाड़। उनके शिखर सैकड़ों शताब्दियों से इस विश्व का रहस्य समझने की चेष्टा करते-से जान पड़ते हैं। पिघली चाँदी की तरह चमचमाती धाराएँ उन्हें नमस्कार कर लौट रही हैं। वे कलकल, गुनगुन करती तरह-तरह के नृत्य-कौशल दिखाती चलती हैं। उनके प्रत्येक पग पर अद्भुत ढंग की लचक और नए क़िस्म की मुद्रा प्रदर्शित होती है। जगह जगह चीड़ और शाल उनकी प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं। जब धाराएँ उनके निकट पहुँचती हैं तो वे उन्हें अपने बगल से रास्ता दे देते हैं। कितनी धाराएँ ही उनकी परिक्रमा कर आगे बढ़ती हैं। रास्ते में उन्हें जहाँ और धाराएँ मिलती हैं या वे झील के बीच से अपना रास्ता बनाती हैं वहाँ का दृश्य कल्पना-जगत के चित्र की भाँति मनोरम बन जाता है। वहाँ पर नदी का स्वच्छ जल स्फटिक की तरह चिकना और स्निग्ध बन जाता है। आकाश चूमने की चेष्टा करने वाले शिखर उसी

में अपने सौन्दर्य का प्रतिबिंब देख स्वयं स्तब्ध हो खड़े रह जाते हैं।

जो प्रदेश इन नदियों द्वारा सौभाग्यवान् बनते हैं वहाँ असल में ही प्रकृति सौन्दर्य उड़ेलते रहने में हमेशा से बड़ी शाहख़र्च रही है। वैसे ही एक अंचल के संबंध में रवीन्द्रनाथ ने कहा है—

'मालूम पड़ता है, यहाँ स्वप्न में सृष्टि कुछ बोलना चाहती है, पर स्पष्ट बोल नहीं पाती, सिर्फ उसकी अव्यक्त ध्वनि अंधकार में गूँज उठती है।'

शब्दहीन सुर। यही है उस अञ्चल की वास्तविक रागिनी।

हमारे देश में वैसे बहुत से अंचल हैं जहाँ हमें अपने जीवन-स्रोतों की वैसी रागिनी सुनाई देती है। उनमें एक—सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों का पानी हिमालय से निकल कर भारत माता के आँचल के पश्चिमी भाग को दक्षिण-पश्चिम दिशा में लहराता तथा हमें जीवन का गान सुनाता चलता चला जाता है।

अठारह सौ मील लंबी सिन्धु हमारे देश की सबसे बड़ी नदी है। इसकी गणना संसार की एक दर्जन बड़ी नदियों में होती है। यह अपने कैलाश के उद्भव-स्थान से निकल कर उत्तर-पश्चिम दिशा में हिमालय की पश्चिमी सीमा तक की

यात्रा कर सहसा दक्षिण की ओर घूम पड़ती है। इसके इस घुमाव पर का दृश्य अद्वितीय है। यदि हम उसके दाहिने तट पर खड़े हों तो हमें उसके हिमालय की गोद में खेलने का बड़ा ही अलौकिक दृश्य दिखलाई देगा। वह चंचला की नाईं उमंग में उछाल मारती आती है और बड़े-बड़े पत्थरों को अपने बाहुपाश में ले साथ ले जाना चाहती है। पत्थर अड़े रहते हैं। नदी गुस्से में आ उन पर गरजती है, उन्हें झकझोरती है, उन पर इठलाती है, और तब नृत्य करती हुई वेग से आगे निकल जाती है। उसकी बगल में सदा शांत मुद्रा में चार मील ऊँचा सर उठाए नंगा पर्वत नदी का यह खेल बहुत दूर तक देखता रहता है।

उस घुमाव से चल कर सिन्धु अपने आगे के दो सौ मील का रास्ता पहाड़ों को ही काट कर बनाती है। फिर इसमें अफ़गानिस्तान की ओर से आकर काबुल और कोहाट नदियाँ मिल जाती हैं। तब सिन्धु खुले मैदान में उतर आती है। यहाँ हमें उसकी और सहायक नदियों की पाँच बाँहें फैली दीखती हैं। इसी प्रदेश का नाम पंजाब है। फिर आगे चल कर समूचा पानी सिमट कर एक धारा में मिल गया है। वहाँ से सिन्धु के समुद्र में मिल जाने तक का प्रदेश सिन्ध कहलाता है।

सिन्धु की ही तरह उसकी सहायक नदियाँ भी अपनी उपरली दूनों में बार-बार चक्कर लगा उस प्रदेश की भूमि पर

अद्भुत रमणीक कसीदा काढ़ा करती हैं। कश्मीर अंचल को झेलम ने ही संसार के सब प्रदेशों की रानी सजाया है। उसके पूर्वी अंचल में पश्चिमी हिमालय की गर्भ शृंखला की एक बाँही में ही झेलम का उद्भव-स्थान है। उसके वहाँ से निकलते ही उसके दक्खिन-पूर्वी स्रोत पर अमरनाथ शृंखला उसे घेर रखने की चेष्टा करती है। झेलम उससे छिटकती चलती है। अपनी बचाव की चेष्टा में उसे अनगिनित चक्कर लगाने पड़ते हैं। कश्मीर की चौरासी मील लंबी और पचीस मील चौड़ी दूनको चारों तरफ से घेर हिमालय की भीतरी शृंखला के पहाड़ खड़े रहते हैं, पर झेलम उत्तर-पश्चिम दिशा में अपना रास्ता बनाती आगे ही बढ़ती चली जाती है।

कश्मीर की राजधानी—श्रीनगर पहुँचने पर वह नगर के घेरे की परिक्रमा करती है और अपने आँचल से वहाँ के मंदिरों की सीढ़ियाँ धोती है। बूलर झील पहुँचने पर उसका सौन्दर्य और भी परिपूर्ण हो उठता है। हिमालय की भीतरी शृंखला के हर मुकुट और काजनाग पहाड़ बहुत निकट आ उसमें झाँकी लगाते हैं। पर उसे रोकने की चेष्टा करने के बजाय वे एक ओर खड़े रह जाते हैं। उनकी गोद में बिना विश्राम किए ही झेलम इठलाती हुई अपनी दिशा बदल चल देती है। बरामुला के पास पहुँचने पर उसे अपने आगे का रास्ता बहुत संकीर्ण हो गया दीखता है। यहाँ चारों तरफ के

पहाड़ उसे घेर कर खड़े हो जाते हैं। वे झेलम से यहीं आखिरी विदाई लेते हैं। तब वह नदी एक-ब-एक दक्खिन की ओर घूम पड़ती है और पंजाब की समतल भूमि में जा उतरती है।

झेलम जिन प्रदेशों से होकर बहती है वहाँ पर अपने दोनों हाथों से अपनी सारी निधि लुटाती जाती है। कश्मीर की भूमि को उसी ने केसर उपजाने वाली भूमि में परिणत कर दिया है। पंजाब और सिन्ध के प्रदेशों को भी वह कम दान नहीं करती। इन दोनों प्रदेशों के मैदानों के बीस में से उन्नीस निवासियों की रोटी का सिलसिला कश्मीर में इकट्ठे होने वाले जलाश्रयों पर ही निर्भर करता है। झेलम उन्हीं जलाश्रयों से सिर्फ मिट्टी, जल और सौन्दर्य लेकर ही नहीं, बल्कि जीवन प्रदान करने वाला स्रोत बन कर नीचे उतरती है।

ऐसा ही एक दूसरा स्रोत चनाब है। इस स्रोत का सौन्दर्य और एक ढंग का है। इसकी मूल धारा—चन्द्रा बारालाचाजोत पर सोलह हजार फीट ऊँची हिमालय की गर्भ श्रृंखला से नीचे उतरती है। यह जोत वा घाटी ही आजकल भारत और तिब्बत की सीमा है।

जहाँ चन्द्रा का उद्भव हुआ है, जहाँ वह पहली किलकारी निकालती है, उस स्थान के चारों ओर के पहाड़ बहुत ही सजीव दीखते हैं। उन पर के कई शिखरों की हिमराशि पहाड़ों

की नीली आँखों के समान दिखाइ देती है। उन्हीं शीतल आँखों से हिमालय अपनी पुत्री चन्द्रा के जीवन की प्रगति देखता और उसकी सौभाग्य-कामना करता रहता है।

चन्द्रा और उसके साथ की एक और नदी—भागा, जिस प्रदेश को आबाद करती हैं उसका नाम लाहुल है। ये नदियाँ जहाँ एक हो जाती हैं वहाँ से उनका नाम चन्द्रभागा पड़ जाता है। यही चनाब का पुराना संस्कृत नाम है। पंजाब की नदियों में चनाब अपेक्षाकृत उत्तरी है। झेलम और चनाब के बीच कश्मीर की जो उपत्यका पड़ती है प्राचीन काल में उसी का नाम अभिसार था।

चनाब की उपरली दून से लगी दक्षिण-पूर्व में रावी की दून है। इसी दून में चंबा प्रदेश बसा है। जब हम उसकी झाँकी लगाते हैं तो अपनी हरियाली के सौन्दर्य से वह हमें ऐसा मुग्ध कर देती है कि उसकी तुलना में हमें आदमियों द्वारा लगाये सुन्दर से सुन्दर बाग भी बड़े तुच्छ दीखने लगते हैं। इस अंचल में प्राकृतिक सौन्दर्य की कसौटी ऐसी उच्चकोटि की दीखती है कि उसको समझने के लिए हमारी अपनी तैयार की गई सब कसौटियाँ, सौन्दर्य संबंधी हमारे सब आदर्श किसी काम के भी नहीं जँचते।

व्यास भी ठीक उसी कोटि की सौन्दर्य-सृष्टि करती है। उसका उद्भव-स्थान रोहटाँग की जोत है। चन्द्रा के बाँएँ बाँएँ

बारालाचा जोत से जो शृंखला दक्खिन घूम गई है उसी में रोहटाँग की जोत पड़ती है। लाहुल प्रदेश का यही प्रवेशद्वार है। कहा जाता है कि पांडवों के 'स्वर्ग' का रास्ता यहाँ से ही होकर जाता था।

और घाटियों के समान ही रोहटाँग की जोत भी हिमालय-शृँखला की रीढ़ पर है। इस रीढ़ के बिचले हिस्से में ही व्यास का उद्गम-स्थान है। उस स्थान पर कई शिलाएँ हैं। लोगों का कहना है कि व्यास ऋषि ने—जो महाभारत युद्ध के समय हुए थे, उन्हीं शिलाओं पर बैठ कर समूचे वेद की संहिताएँ बनाई थीं तथा महाभारत के साथ-साथ और भी बहुत से महान् ग्रन्थों की रचना की थी।

आज भी जब हम उन शिलाओं पर खड़े होते हैं तो हमारे पीछे की दुनिया—'मर्त्यलोक' असल में ही बहुत पीछे छूट गई दीखती है। उत्तर की ओर हमारे सामने के पहाड़ पर बरफ का एक चौड़ा और अत्यन्त ही चिकना रास्ता दिखाई देता है। बहुत दूर आगे जाकर वह रास्ता क्षितिज से मिल गया है। रात के समय उस रास्ते के ऊपर जब आकाश-गंगा दिखाई देती हैं तो मालूम पड़ता है, मानो उस रास्ते ने उस गंगा की धारा से ही अपना तांता लगा रखा है।

जिन शिलाओं पर खड़े हो हम उत्तर का वह 'स्वर्ग-सोपान' देखते हैं उन्हीं के नींचे से निकलने वाली व्यास के

हृदय की धड़कन भी हमें सुनाई देती है। उसका स्रोत पकड़ हम थोड़ी दूर नीचे उतरते हैं तब हमें उसका अट्टहास सुनाई देने लगता है। शायद वह हमारे मर्त्यलोक की छोटी-मोटी चिन्ताएँ और हमारे हर्ष तथा शोक को उस ऊँचाई से देख कर ही उस भाँति हँस पड़ती है।

व्यास स्वयं हमें सांत्वना देने और सुखी बनाए रखने के लिए ही बहुत उतावली दीखती हैं। शायद इसी कारण वे स्वर्ग का संदेश साथ ले बड़े वेग से नीचे उतरती हैं। एक साथ ही कई सीढ़ियाँ लांघती वे अपने पहले पाँच मील के ही उतार में लगभग छ हजार फीट नीचे चली आती हैं।

व्यास का उपरला स्रोत लाहुल के दक्खिन और चंबा के पूरब-दक्खिन कुल्लू के अत्यन्त रमणीक प्रदेश की सृष्टि करता है। फिर वह नदी धौलाधार की शृंखलाओं के घिराव से बचने की चेष्टा में बहुत-से चक्कर लगा मंडी और काँगड़ा प्रदेश पर हिमालय से लाया सौन्दर्य बिखेरती और पंजाब के उत्तर-पूर्वी अञ्चल को उर्वरा बनाती सुलतानपुर के पास सतलज से जा मिलती है।

सतलज सिन्धु-प्रणाली की नदियों में सबसे पूर्वी है। इसकी लंबाई नौ सौ मील है। सिन्धु और ब्रह्मपुत्र के उद्भव के निकट ही कैलाश पर्वत पर इसका स्रोत आरंभ होता है। वहाँ से यह थोड़ी दूर उत्तर-पश्चिम दिशा ले फिर

निश्चित रूप से दक्खिन-पश्चिम की ओर घूम पड़ती है। अपने रास्ते में इसे हिमालय की शृंखलाओं से बहुत ही जटिल संग्राम लेना पड़ता है। उसके रास्ते में जितने ही विकट अड़ंगे आते हैं सतलज उनसे उतने ही दूने उत्साह से 'गर्जन' कर उन्हें विदीर्ण करती आगे आती है। स्थान-स्थान पर इसने चार हजार फीट की गहराई तक पहाड़ों की रीढ़ काट कर अपने आगे बढ़ने का रास्ता निकाला है। वैसे स्थानों पर दोनों तरफ के पहाड़ आरे से खड़े काट दिए गए से दीखते हैं।

सतलज को ही हम प्राकृतिक दृष्टि से पंजाब की पश्चिमी सीमा मान सकते हैं। जहाँ इसमें स्पीती नदी की दून खुली है वह प्रदेश कनौर वा बशहर कहलाता है। इसे ही कई विद्वान् प्राचीन किन्नर देश बतलाते हैं। सतलज स्वयं सुकेत प्रदेश आबाद करती शिमला को बाँई ओर छोड़ रामपुर में आकर समतल भूमि पर उतर आती है। यहाँ से वह पश्चिम दिशा लेती है। सुलतानपुर में व्यास, जलालपुर में चनाब उससे आ मिलती हैं। तब मिट्ठनकोट में सतलज स्वयं सिन्धु में मिल जाती है। प्रशस्त भारतीय मैदान के पश्चिमी अंचल में दक्खिन-पश्चिम रुख ले बहनेवाली यह सतलज ही सिन्धु की आखिरी सहायक नदी है।

हिमालय से निकलने वाली इन सब नदियों का हमारे जीवन को सुखी और उन्नत बनाने में बहुत बड़ा हाथ है। वे

हमारे दैनिक उपयोग के लिए बहुत से सुन्दर प्रकार के अन्न तथा फल जुटा देती हैं। साथ ही वे अपने अञ्चल के निवासियों को भी अपने निजी उदाहरण से बहुत सी वास्तविक जीवन में काम आने वाली शिक्षाएँ देती हैं।

कश्मीर के निवासियों ने अपने यहाँ की नदियों से बहुत कुछ सीखा है। उनकी जन्म-भूमि में उनकी नदी सौन्दर्य की जैसी रेखाएँ आँकती चलती है, अपने यहाँ की शतरंजी तथा शालदुशालों पर उन्होंने उसका वही इतिहास अंकित करने की चेष्टा की है। उसी चेष्टा में उनकी कारीगरी और सौन्दर्य की परख संसार में अद्वितीय बन गई है।

दैनिक संघर्ष के बीच रह कर भी अपनी ही तरह सुन्दर गान और नृत्य का आनंद उठाने की प्रेरणा विभिन्न प्रदेशों के निवासियों को अपने अंचल की नदियों से ही मिली है। विशेषकर कश्मीर और कुल्लू निवासियों के सुन्दर 'जननृत्य' में उनके यहाँ की नदियाँ ही अदर्श रहती हैं। उन नदियों के घुमाव पर की लचक को ही वहाँ के निवासी अपने शरीर की मुद्राओं द्वारा दिखलाते हैं, उन धाराओं का कल्याणकारी संघर्ष और दान करने का आदर्श ही नृत्य के समय लोगों की भाव-भंगिमाओं में व्यक्त होता है। अपने गान में भी उन अंचलों के निवासी अपने यहाँ की नदियों के ही अनोखे सुर की आवृत्ति करने की चेष्टा करते हैं।

इन विशेषताओं को देख, यह स्वीकार करना पड़ता है कि नदियाँ हमारे जीवन-स्रोत को हैसियत रखने के साथ-साथ हमारे आदर्शों तक के मामले में पथप्रदर्शिका का काम करती हैं।

पावन-धारा

प्रकृति ने गंगा को सब दृष्टि से सुरक्षित, सर्वांगसुन्दर और पल्ले सिरे की परोपकारप्रिय बना रखने की चेष्टा की है। मालूम पड़ता है जैसे यही उसकी सबसे लाड़ली कन्या है। उसने इन्हें सिर्फ अलौकिक सौन्दर्य ही प्रदान नहीं किया है बल्कि धीर, गंभीर बना अनेक गुणों से आभूषित कर रखा है।

वही गंगा अपनी सब सखियों के साथ हमारी मातृभूमि के दक्षिण-पूर्वी अंचल पर सतत श्यामल रंग चढ़ाती रहती है। इसी अंचल में पूर्वा का जोर अधिक रहने के कारण यहाँ की हरियाली सिन्धु अंचल की अपेक्षा गहरी रहती है। और कई दृष्टि से भी यही अंचल हमारे देश में सबसे अधिक प्रधानता रखता आया है।

जिन आदर्शों को लेकर हिमालय इतना ऊँचा उठा है शायद उसका असली अनंत भंडार उसके मध्य भाग में ही केन्द्रीभूत है। यहाँ से ही मूर्त विषयों की उन्नति तथा अमूर्त

चिंतन के लिए आवश्यक सब तरह की सामग्री गंगा अपने प्रवाह में लेकर चलती हैं और उन्हें गंगोत्री से गंगासागर तक बिखेर देती हैं। इनकी धारा से ही आर्य-जाति के जीवित और प्राणपूर्ण बनाए रखने की चेष्टाओं का सूत्रपात होता रहा है। इसी कारण गंगा के विषय में यहाँ तक माना जाता था कि महापुरुष, विद्वान, शूरवीर और धनी जब उत्पन्न होंगे तो उसके द्वारा सींचे गए प्रदेशों में ही। सिर्फ सांसारिक ही नहीं, आध्यात्मिक शक्तियों का उद्दीपन करनेवाली भी इसी की धारा मानी जाती रही है। इस संबंध में अन्वेषण करने के बाद आयुर्वेद में कहा गया है—

'तृष्णा-मोह-ध्वंसनं दीपनंच।
प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम्॥'

"भागीरथी का जल तृष्णा और मोह का ध्वंस करने-वाला, दीप्ति प्रदान करने तथा प्रज्ञा प्रेरित करने वाला है।"

गंगा के अद्भुत आकर्षण का ही यह परिणाम हुआ है कि उसका माहात्म्य अन्य सब नदियों से बढ़ा चढ़ा है। हिन्दुओं में यह दृढ़ विश्वास है कि गंगा इस लोक में अभ्युदय और मृत्यु के उपरांत मोक्ष देती हैं। गंगा, गंगा कहने से ही मृत्युलोकवासी सद्गति प्राप्त करते हैं।

हिमालय से निकलते समय गंगा की कई धाराएँ रहती हैं। उनका उद्भवस्थान भी हिमालय की विभिन्न शृंखलाओं

में रहता है। इनकी सबसे पश्चिमी धारा का नाम भागीरथी है। इसका स्रोत हिमालय की गर्भ शृंखला में गंगोत्री से निकलता है। पर यह गंगा की गौण-धारा है।

भागीरथी की उपरली शाखा जान्हवी है। उसका स्रोत हिमालय की गर्भ शृंखला के और ऊपर जङ्स्कर शृंखला में है। ऐसा समझा जाता है कि वैदिक काल में जन्हु नामक राजा ने गंगा से एक नहर निकाली थी। यह नहर अवश्य ही संसार की सबसे पुरानी नहरों में रही होगी। जन्हु के उसी प्रयत्न की याद में गंगा का एक नाम—जान्हवी अब भी चलता है।

हिमालय की गर्भ शृंखला और जङ्स्कर शृंखला के बीच में ही विष्णुगंगा और धौलीगंगा की दूनें हैं। विष्णुगंगा दून के सिरे पर बद्रिकाश्रम है। ये दोनों गंगाएँ हिमालय के ठीक गर्भ में—जोशीमठ पर मिलती हैं। ये ही दोनों उस अलखनंदा की मूल शाखाएँ हैं जो गंगा की मूल धारा है। गंगा की सबसे पूर्वी धारा पिंडर है। भागीरथी से पिंडर तक की गंगा की सब धाराओं का प्रदेश ही गढ़वाल कहलाता है।

गंगा की चर्चा में यमुना अनिवार्य रूप से आ जाती हैं। ये दोनों सगी बहन जैसी हैं। यमुनातट कृष्ण की लीला भूमि रही है। उनकी कोई भी क्रीड़ा बिना यमुना के अपूर्ण रहती है। इसलिए भारतीय साहित्य, काव्य और कविताओं में

जितने रूपों में यमुना का सौन्दर्य वर्णन किया गया है और किसी भी नदी का नहीं हुआ है। कृष्णकेलि के साथ जुड़े रहने के कारण भारतीय नृत्य, गान और चित्रकला के क्षेत्र में भी यमुना ही आदर्श पटभूमि रहती आई है। उसके किनारे पर के कदंब जैसे वृक्षों के सौन्दर्य की ख्याति तो दूर रही करील के काँटे भी अमरत्व प्राप्त कर चुके हैं।

यमुना का उद्भव स्थान—यमुनोत्री गंगा के उद्भव स्थान—गंगोत्री से अधिक दूर नहीं है। ये दोनों बहनें हिमालय की पास-पास की चोटियों से ही नीचे उतरती हैं। यमुना गंगा से कुछ दूर बहुत कुछ उसकी धारा के समानान्तर ही बहती हैं। फिर यह अन्तर धीरे-धीरे कम होता जाता है। यमुना ८६० मील की यात्रा कर लेने के बाद प्रयाग में अपनी बड़ी बहन गंगा के आँचल में समा जाती हैं।

बद्रिकाश्रम, गंगोत्री और यमुनोत्री की यात्रा हर साल हजारों यात्री किया करते हैं। अपने ऊपरी अंचल में गंगा-यमुना बहुत साधारण सोते सी दीखती हैं। हिमालय की लंबी-लंबी भुजाएँ उन्हें अपनी तलहत्थी पर ले खेलाती मालूम पड़ती हैं। सब तरह की विघ्नबाधाओं को नष्ट करने की शक्ति उनमें आ जाने तक पहाड़ों के और शृंखल भी उन्हें सुरक्षित रखने के ख़याल से संतरी की तरह पहरा देते रहते हैं। जब उनकी धाराएँ पुष्ट होने लगती हैं तो वे पहाड़ दूर हटने लगते

हैं। उनकी जगह चीड़ के वृक्ष गंगा तट को श्यामल रंग देने के लिए आ जाते हैं। वे गंगा-यमुना के लिए चँवर धारण किये से खड़े रहते हैं।

इस प्रकार अपने उद्भव स्थान से लगभग दो सौ मील की यात्रा कर लेने पर गंगा ऋषिकेश हरिद्वार पहुँचती हैं। यमुना उनसे कुछ दूर पश्चिम रहती हैं। यहां हिमालय उन्हें आखिरी विदाई देता है। फीके रंग की नीलम सी इन नदियों की स्वच्छ धाराएँ दक्खिन पूर्व के मैदानों की ओर घूम पड़ती हैं।

गंगा-यमुना का यह घुमाव ही उन्हें सिन्धु प्रणाली की नदियों से अलग करता है। इन दोनों के बीच एक ऊँचा जल-विभाजक है। उसी के सीना ऊँचा कर रखने के कारण सतलज और यमुना एक दूसरे से हटती गई हैं। यह तन कर खड़ा हो जाने वाला क्षेत्र उत्तर में कुरुक्षेत्र का बांगर है।[५] इसके दक्षिण में राजपुताना के पहाड़, जंगल तथा मरुभूमि आ गए हैं। सिन्ध कांठे से गंगा कांठे में जाने के लिए इन दोनों के बीच का प्रदेश पार करना बहुत दुष्कर होता है। इसलिए इन दोनों कांठों के बीच एकमात्र सुगम रास्ता कुरुक्षेत्र-पानीपत के तंग बांगर से ही होकर रह जाता है। इसी कारण हमारे देश की अनेक भाग्य-निर्णायक ऐतिहासिक

---

५. जहाँ नदियाँ नहीं पहुँच पातीं उस सूखी जमीन को बांगर कहते हैं।

लड़ाइयां यहीं पर हुई हैं। दिल्ली ही गंगा-यमुना कांठे के प्रवेशद्वार की देहली है।[६]

गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश दोआब कहलाता है। यही ठेठ हिन्दुस्तान या अन्तर्वेद है। सिर्फ़ अन्न की उपज के लिए ही नहीं बल्कि महान् भारतीय-संस्कृति के उद्भव तथा निर्माण में इस प्रदेश का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यहाँ से ही जिस उर्वरा अंचल का आरंभ और पूर्व की ओर विस्तार होता गया है, मालूम पड़ता है उसी की रक्षा की प्रकृति को सबसे अधिक फ़िक्र रही है। उसने इस प्रदेश की बड़े ही सुन्दर ढंग से किलाबंदी की है। उत्तर की ओर से आने के लिए नदियों द्वारा हिमालय की रीढ़ में डाले गए दरार के रास्ते बड़े ही दुर्गम हैं। इस रास्ते से पहाड़ी पशुओं की पीठ पर सामान लाद साहसी लोगों का छोटा सा जत्था यात्रा कर सकता है, पर हिमालय और तिब्बत के आरपार के रास्ते दूसरे देशों के साथ घना संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। हिमालय के उस पार भी लंबा चौड़ा और बीहड़ तिब्बत का पठार है। इस ओर की प्रकृति द्वारा तैयार किए गए ज़बर्दस्त क़िलेबंदी का ही यह परिणाम हुआ है कि उस ओर से गंगाक्षेत्र

---

६. मैदान में किसी नदी के दोनों तरफ़ की भूमि को कांठा कहते हैं और वही यदि पहाड़ में घिरा हो तो उसे दून कहते हैं। अंग्रेजी में दोनों का ही नाम Valley (वैली) है।

पर कोई भी फ़ौजी हमला संभव नहीं हो पाया है।

गंगातट को ही सबसे निरापद स्थान मान आर्यों ने भी यहीं अपनी महान् संस्कृति के बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित किए थे। हिमालय से उतरने वाली गंगा की धाराओं के संगम के ठिकानों को ही प्रयाग कहते हैं। ऐसे ही ठिकाने नन्दप्रयाग, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग आदि हैं। ऐसे ही एक प्रयाग में आर्यों के एक प्रमुख जत्थे ने सप्तसिंधव से चलकर अपनी पहली बस्ती बसाई थी। उस स्थान पर टिक जाने पर गंगा का पावन पड़ोस उन्हें सबसे अधिक प्रभावित करने लगा। इस समय से एक अर्थ में गंगा ही उनके उन्नति की ओर अग्रसर होने की पथ प्रदर्शिका बनीं। इसी के परिणाम स्वरूप आगे चल कर आर्यों ने उस महान् संस्कृति का निर्माण किया जो आज भारतीय-संस्कृति कही जाती है। हरिद्वार, प्रयाग और काशी इसी संस्कृति के आज भी बहुत बड़े केन्द्र हैं।

गंगा की हिमालय से लेकर समुद्र तक की यात्रा में हमें जो प्रदेश मिलते हैं वे ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े ही महत्व के रहे हैं। इस दृष्टि से देखने पर हमारे देश का कोई भी दूसरा अंचल इसकी बराबरी तक नहीं पहुँच पाता। राम और कृष्ण दोनों की ही लीला-भूमि इसके ही पड़ोसी अंचल रहे हैं। अवध राम से भी प्राचीन काल में प्रख्यात रघुओं की भूमि रहा है। अपनी यात्रा के बीच में जहाँ गंगा लगभग

सीधी पूरब बहती है उनका वह बिचला कांठा बिहार है। इस बिहार में गंगा के ही तट पर बसे पाटलिपुत्र को एक ज़माने में बहुत बड़े राजनैतिक और सांस्कृतिक केन्द्र बनने की मर्यादा प्राप्त हुई थी। इसके सिवा, गंगा तथा उसको सहायक नदियों के तट पर अनेक वैसे नगर तथा बस्तियाँ हैं जो हमें अपने देश के प्राचीन इतिहास को याद दिला देती हैं। वे हमारे देश की अनेक प्राचीन राजधानियों से भी प्राचीन होने का दावा करती हैं।

यों तो गंगा की साढ़े पंद्रह सौ मील लंबी हिमालय से बंगोपसागर तक की पूरी धारा के साथ उसके तट का प्रत्येक पग ही पावन माना जाता है; फिर भी इसमें काशी की भूमि का महत्व सबसे अधिक है। यही हमारी विद्या, धर्म, सभ्यता, संगीत, शिल्प और कला का सबसे बड़ा केन्द्र रहा है। सांसारिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति में यह नगरी सबसे आगे रहती आई है। हिन्दू संस्कृति के विचार से इसे सारे भारत का हृत्पिंड नाम देना ही उचित होगा। पर काशी नगरी को यह मर्यादा और इतना बड़ा माहात्म्य असल में गंगा ने ही प्रदान किया है।

गंगा की पटभूमि में ही काशी का सौन्दर्य खिलता है। उसकी धारा इस अर्धचंद्राकार नगर की मीलों लंबी घाट की सीढ़ियों को धोकर उनमें असंख्य नरनारियों को पावन

बनाने की शक्ति ला देती है। गंगा के वहाँ रहने के ही कारण उन घाटों के ऊपर बसा नगर विशाल रंगमहल के मंच सा दिखाई देता है। वहाँ के सारे दृश्य की एक साथ झाँकी लगाने पर मालूम पड़ता है जैसे गंगा ने किसी अलौकिक संगीत को ही साकार रूप दे उस नगर के रूप में जमा कर ला खड़ा किया है। प्रति दिन ब्राह्मबेला होते ही पहले स्वयं गंगा ही अपने शरीर पर की अँधेरी रजाई दूर फेंक झिलमिल कज्जल वस्त्र धारण कर जग पड़ती हैं। इन्हीं मुहूर्तों में उनकी घाट की सीढ़ियों से युग-युग की बातें हुआ करती हैं। वही विशेष गुन-गुन नगर निवासियों को जगाता है। इसी समय गंगा के प्रवाह से निकली भैरवी समस्त रात्रि का संचित ताजा माधुर्य ले हवा में बिखेरने लगती है। गंगा-तट के वृक्ष उसे पान कर झूमने लगते हैं। तब मंदिरों के घरी-घंट बज उठते हैं। मालूम पड़ता है जैसे उनकी एक-एक चोट से अज्ञान-अंधकार दूर भागता जा रहा है। इस काशी की गिनती अवश्य ही गंगा की सुन्दरतम कीर्त्तियों में की जा सकती है।

सौन्दर्य-सृष्टि वा हमारे प्रदेशों को सुन्दर बाग़ का स्वरूप देने के कार्य में गंगा अवश्य ही अकेली नहीं है। अपनी इस दुष्कर पर सुन्दर कीर्ति में उन्हें अपनी बहुत सी सखियों का सहयोग प्राप्त होता है। उनकी वे सखियाँ ख्याति में अवश्य ही गंगा की बराबरी नहीं करतीं, पर इसीलिए उनके कार्यों का

वैसा ही गौण महत्व हो, वैसी बात नहीं है। असल में गंगा की चर्चा में ही उन सबकी कीर्ति का समावेश हो जाता है। उन सबके कार्य, उनकी निःस्वार्थ सेवा और उनका त्याग प्राप्त किए रहने के कारण ही गंगा गौरवमय गंगा बन पाती है।

गंगा की वैसी सहायिका नदियों में यमुना के बाद घाघरा का नाम आता है। इसके स्रोत गंगा के स्रोतों के ऊपर लद्दाख शृंखला में हैं। घाघरा की दूनें ब्रह्मपुत्र की दून तक पहुँचने के रास्ते तैयार कर देती हैं।

गंगा की सबसे पूर्वी धारा पिंडर के स्रोत से केवल तीन मील पूरब घाघरा की पहली शाखा सरयू का स्रोत है। यहाँ से सवा दो सौ मील दूर धौलगिरि तक तमाम घाघरा का ही प्रस्रवणक्षेत्र है। घाघरा की प्रमुख सहायक नदी—शारदा वा काली घाघरा में उत्तर-पश्चिम की ओर से आकर मिलती है। हिमालय की जङ्स्कर शृंखला से निकलने वाली गौरी गंगा, धौली गंगा और काली की धाराओं से ही शारदा बनी है। सरयू की उपरली दून तथा शारदा को बनाने वाली धाराओं का दून ही सुन्दर कुमाऊँ प्रदेश है। इस प्रदेश के पश्चिमी अंचल में पिंडर के स्रोत के नीचे से निकलने वाली रामगंगा और उसकी सहायक कोसी की दूनें हैं। स्वयं पिंडर के उपरले प्रवाह से भी कुमाऊँ का एक अंचल बना है। यह कुमाऊँ अंचल अपने निराले सौन्दर्य की खूबियों के लिए विख्यात है।

सुन्दर अंचल की सृष्टि करने वाली धाराएँ जिस सरयू (घाघरा) की मुख्य सहायक गिनी जाती हैं, वह स्वयं सरयू भी कम पावन नहीं है। रामचन्द्र के पूर्व पुरुषों के समय से ही इसी सरयू के किनारे बसी अयोध्या नगरी सूर्यवंशियों की राजधानी रहती आई थी। आज भी इस नगरी का दर्शन और वहाँ की सरयू में अवगाहन करोड़ों हिन्दुओं को पावन बनाया करता है।

घाघरा के प्रस्रवणक्षेत्र से लगा पूर्व की ओर गंडक का प्रस्रवणक्षेत्र है। उसकी उपरली धाराओं का प्रदेश सप्तगंडकी कहलाता है। ये धाराएँ धौलगिरि से लेकर गोसाँई थान तक फैली हैं, पर त्रिवेणी घाट के उत्तर में ही उन सब का संगम हो जाता है। इनकी एक धारा—काली गंडक की दून धौलगिरि के पूरब से हिमालय पार तक चली गई है। एक दूसरी—त्रिशूली गंडक की दून भी तिब्बत जाने के पुराने रास्तों में है।

गंडक-तट भी भगवान बुद्ध के जीवन काल तक काफी ख्याति प्राप्ति कर चुका था। लिच्छवियों के प्रसद्ध प्रजातंत्र की इसी के तट पर सृष्टि हुई थी। गंगा में मिलने के पहले इस नदी का नाम नारायणी पड़ जाता है। इसका गंगा से संगम हरिहर क्षेत्र में हुआ है। यहाँ शिव का मन्दिर है। लोगों के विश्वास के अनुसार वह उसी स्थान पर है जहाँ गज-ग्राह की लड़ाई हुई थी और गज के आर्त होकर पुकारने

पर स्वयं भगवान ने उसकी रक्षा की थी। कातिकी पूर्णिमा के अवसर पर यहाँ आजकल भी वैसा मेला लगता है जिसकी गिनती संसार के बहुत बड़े मेलों में होती है।

सप्तगंडकी के पूर्व ठेठ नेपाल की छबीस मील लंबी और सोलह मील चौड़ी दून है। यहाँ विष्णुमती तथा मनोहरा का बागमती के साथ संगम होता है। नेपाल की राजधानी भी इसी दून में है। वहीं बाबा पशुपतिनाथ का मंदिर है जहाँ उनके दर्शन के लिए शिवरात्रि के दिन लाखों की भीड़ लग जाती है।

ठेठ नेपाल की दून के पूर्व सप्तकौशिकी प्रदेश है। इस प्रदेश में कोसी की अनेक धाराएँ हैं जिनमें सनकोसी, दूधकोसी और अरुण मुख्य हैं। कोसी की इन धाराओं की दून होकर भी नेपाल से हिमालय पार जाने के रास्ते हैं। पूर्व में इन धाराओं का स्रोत कांचनजंघा तक फैला है।

पश्चिम में शारदा की उपरली दून से लेकर पूर्व में कोसी के कांचनजंघा से निकलने वाली धारा तक का प्रदेश नेपाल है। मोटे मोटी रूप में उत्तर में हिमालय की हिम रेखा— जिसमें नेपाल की अधिकांश नदियों का स्रोत है, और दक्षिण में हिमालय की तराई, नेपाल की सीमा निर्धारित कर देती है। यह प्रदेश हिमालय के दुशाले में लगा उसका बिचला हिस्सा है। यहाँ के जंगल ही इस प्रदेश के वैभव हैं। आदमियों का

साहस उसके कितने ही रूपों विशेषकर ऊँचे पर्वतवाले अंचल में निवास करने वाली प्रकृति का घूँघट उठा कर उसके वास्तविक सौन्दर्य का दर्शन कर पाने में सफलता नहीं पा सका है।

नेपाल के दक्षिण के प्रदेशों की भूमि का निर्माण प्रकृति ने वहाँ की नदियों से सिर्फ़ नरम मिट्टी इकट्ठी करा कर निर्माण किया है। इस अंचल में पथरीली भूमि का नितान्त अभाव है। इसीलिए यहाँ की रौनक़ भी और ही ढंग की है। इसके पश्चिमी अंचल से ही हमें आम के बगीचे मिलने लगते हैं। हम ज्यों-ज्यों पूरब की ओर बढ़ते हैं वे वृक्ष अधिक घने और अधिक सघन छाया वाले मिलते हैं। उनके बीच से जब सनसनाती हुई हवा निकलती है तो वे आम्र वृक्ष मस्ती से झूमने लगते हैं। एक समय ऐसे ही आम्रवन में भगवान बुद्ध टिका करते थे।

और पूरब बढ़ने पर हमें केले के कोमल थम्ह और उनके बड़े-बड़े चिकने पत्ते मिलते हैं। उनकी आयु आम्रवृक्षों से कहीं कम होती है फिर भी अपने जीवन-काल के अल्प दिनों में ही वे न सिर्फ़ अपनी स्निग्ध हरियाली से हमारी आँखें शीतल करते हैं बल्कि प्रचुर मात्रा में मीठे फल भी उपभोग करा जाते हैं। साथ ही, उनकी वृद्धि की रफ़्तार इतनी तेज़ रहती है कि फल लगने के बाद यदि उनके वृक्ष काट म डाले जाएँ तो उनसे वैसा घना जंगल बन जा सकता है

जिनके भीतर आदमियों का प्रवेश कर पाना भी कठिन हो जाएगा।

हम यदि पूर्व दिशा में और भी आगे बढ़ते जाएँ तो वहाँ की ज़मीन हमें पश्चिमी अंचल की अपेक्षा अधिकतर और पानी से चपचप करती दिखाई देगी। यहाँ हमें केले के थम्हों के साथ-साथ बाँस, खजूर और तालवृक्षों की भरमार दिखाई देगी। वे ही हमें याद दिला देते हैं कि अब हम उस बंगाल प्रांत में आ पहुँचे हैं जहाँ गंगा ने समुद्र की तरफ मुँह फेर उससे मिलन के लिए अपनी बाँहें फैला दी हैं।

गंगा के प्रयाग से पूर्व की ओर बढ़ने पर उसके किनारों पर की ज़मीन के उतार का सिलसिला बहुत कम होता गया है। यह जमीन एक मील के बीच मुश्किल से छः इंच ढालू हो पाई है। इस उतार के धीमे सिलसिले के ही कारण समुद्र से मिलने के आखिरी दो सौ मील के बीच, जितनी मिट्टी पहाड़ों से ढोकर गंगा लाती हैं उसे आगे बहा ले जाने की ताक़त उनकी धारा में नहीं रह जाती। समुद्र के निकट पहुँचते पहुँचते वह मिट्टी इकट्ठी होकर उनकी धारा को ही कई भागों में विभक्त हो जाने के लिए बाध्य करती है। इसी के परिणाम स्वरूप बंगाल के डेल्टे में निवास कर सकने लायक नई भूमि निकल आती है। जहाँ से गंगा की धारा से भागीरथी (हुगली) अलग निकल जाती है, वहाँ से ही

बंगाल का असली डेल्टा आरंभ होता है। भागीरथी के संबंध में अनुसंधान करने वाले कई विद्वानों का मत है कि भागीरथी गंगा की स्वाभाविक धारा नहीं है, बहुत पुराने ज़माने में यह गंगा से नहर निकाल कर लाई गई थी। राजा भगीरथ के संबंध में गंगा के लाने की जो कहानी प्रचलित है, संभव है कि उसका यही असली मतलब हो। गंगा के और आगे बढ़ने पर गोआलंदो में ब्रह्मपुत्र नदी भी उनसे आ मिली है। इस मेल के दक्खिन से पूर्वी बंगाल की घनी आबादीवाले डेल्टा अंचल का निर्माण शुरू हो जाता है।

ब्रह्मपुत्र नदी गंगा से मिलने के पहले ही अपने निर्माण का बहुत बड़ा अंश पूरा किए रहती है। कैलाश के पूर्वी छोर से निकल कर अपनी १८६० मील की लंबी यात्रा का आधा भाग वह हिमालय के उस पार—तिब्बत में ही पार करती है। वहाँ यह चाङ्पो कहलाती है। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर पहुँचने पर लोहित नदी उसमें आकर मिल गई है। प्राचीन काल में हमारे देशवासी इस लोहित (लौहित्य) को ही अपने देश का पूरबी छोर मानते थे। यहाँ ही सदिया के पास से ब्रह्मपुत्र नदी दक्खिन-पश्चिम दिशा ले भारतवर्ष के भीतर प्रवेश करती है।

ब्रह्मपुत्र की धारा काफ़ी चौड़ी है। बीच-बीच में अनेक जगहों पर द्वीप-से भी बन गए हैं। साथ ही यह नदी बड़ी तुनुक-

मिजाज है। अपनी ही धारा द्वारा इकट्ठी की गई मिट्टी-पत्थर यदि उसके रास्ते में थोड़ी भी बाधा देते हैं तो यह तुरत ही उस स्थान से हट कर अपने प्रवाह के लिए दूसरा रास्ता बना लेती है। इसी भांति यह बहुत से चक्कर लगाती और अनगिनित द्वीप तैयार करती अपने आसाम के काँठे में साढ़े चार सौ मील तक बहती है। फिर गारो पहाड़ के नीचे पहुँच वहाँ एक अद्भुत सुन्दर मोड़ तैयार कर यह आसाम के बाहर निकल आती है। यहाँ से इसका नाम यमुना पड़ जाता है। तब यह १८० मील ठीक दक्षिण दिशा में चल कर गोआलंदो पहुँच गंगा में मिल जाती है।

और नदियों की भाँति ब्रह्मपुत्र की धारा से खेतों की सिंचाई करने की सुविधा नहीं है। पर उसमें हर साल जो भयानक बाढ़ आती है वही नदी-तट के प्रदेशों के लिए प्राकृतिक सिंचाई का काम पूरा कर देती है। समुद्र से लेकर डिबरूगढ़ तक की इसकी आठ सौ मील की धारा में नौका वा जहाजों द्वारा यातायात की सुविधाएँ हैं। मुख्यतः नदियों का ही प्रदेश रहने के कारण इस अंचल में व्यापार वा यातायात के साधनों में अब भी नाव वा स्टीमर बहुत महत्त्व रखते हैं।

गंगा-ब्रह्मपुत्र संगम के उत्तर हिमालय तक के प्रदेश में ब्रह्मपुत्र में मिलनेवाली नदियों की ही शाखाएँ फैली हैं।

कांचनजंघा के पूरब हिमालय का पानी गंगा में न जाकर ब्रह्मपुत्र में ही जाता है। नेपाल से लगा पूरब की ओर तिस्ता की दूनों का प्रदेश सिकिम है। इसी के निचले छोर में दार्जिलिंग, तिब्बतियों का दोर्जेलिंग—वज्रद्वीप है। यहाँ से कांचनजंघा से लगी हिमालय की चोटियों का दृश्य बड़ा रमणीक है। मौसिम साफ रहने पर गौरीशंकर तक की चोटी वहीं से दिखाई दे जाती है। उधर देखने पर मालूम पड़ता है जैसे उन चोटियों के स्वरूप में स्वयं हिमालय ही अपने पांवों के पास बसने वाली बस्तियों को हमेशा आशीर्वाद दिया करता है।

सिकिम से पूरब तिब्बतियों का बिजली का देश—भूटान है। यहाँ भी अनेक धाराएँ फैली हैं जो सब नीचे मैदानों में उतर कर ब्रह्मपुत्र से मिल जाती हैं। उन धाराओं में अमोछू की दून—चुम्बी दून बनाती है। आजकल भारत से तिब्बत जाने का मुख्य रास्ता इस दून से होकर ही है।

गंगा के साथ ब्रह्मपुत्र के मिल कर आगे बढ़ने पर चाँदपुर में और एक नदी—मेघना उनसे आ मिलती है। मेघना की मुख्य शाखा सुरमा है जिसका काँठा दक्षिणी आसाम का अंचल है। संसार भर में सबसे अधिक वृष्टि इसी अंचल के खासी—जयंतिया पहाड़ियों के नीचे बसे चेरापुंजी नामक स्थान में होती है। उस स्थान के आसपास के इलाकों को

धुआँधार बादलों का प्रदेश नाम दे देना ही अधिक उचित होगा। यह सारा पानी सुरमा और मेघना के जरिए गंगा में जा पहुँचता है। इसी कारण चाँदपुर में गंगा का (मुर्शिदाबाद से ही उनका नाम पद्मा दिया जाता है) पाट मीलों चौड़ा हो जाता है। उनकी धारा समुद्र-सा रूप धारण कर लेती है। आर पार दिखाई नहीं देता।

गंगा के निचले कांठे वा ब्रह्मपुत्र में नाव से यात्रा करने पर तट पर के प्रदेश इतने शस्यश्यामल दीखते हैं कि वे जीवित रहस्यों से ढके से प्रतीत होते हैं। नदियों के अंचल के उस भाँति रहस्यमय सौन्दर्य से ढके रहने के ही कारण संभवतः आसाम प्रदेश की ख्याति जादू, मंत्र-तंत्र आदि के मामलों में बहुत अधिक है।

गंगा के समूचे कांठे को ही हम अपने देश के सबसे घनी आबादी वाले सम्पन्न प्रदेशों में गिन सकते हैं। इस कांठे की दिल्ली से कलकत्ते तक की लंबाई और लखनऊ से प्रयाग जितनी चौड़ाई की पचास हज़ार वर्गमील भूमि में फ़ी वर्ग-मील भूमि पर पांच सौ आदमी निवास करते हैं। इस विशाल जनसमुदाय की वास्तविक जननी गंगा ही हैं।

यही नहीं, हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की जननी भी गंगा मैया ही हैं। इन्होंने ही हमारे आर्य पूर्वजों को वह प्रेरणा दी जिसके बल वे महान भारतीय संस्कृति का

निर्माण करने में सफल हुए। उस संस्कृति ने अपनी छत्र-छाया में न सिर्फ कैलाश से कन्याकुमारी और कमख्या से द्वारका तक के भारतीय भूखंड के ही, बल्कि भारत महासागर के द्वीप समूह, एशिया के बड़े भाग—पृथ्वी के आधे पूर्वी गोलार्द्ध के मानव समाज को आश्रय दिया है। भारतीय संस्कृति की यह व्यापकता, हमारे पूर्वजों की यह देन, कीर्ति और यश वास्तव में पावन-धारा गंगा की है।

दक्षिण की धाराएँ

भागीरथी हमें जहाँ किनारे पर छोड़ सागर से जा मिलती हैं वहाँ से हमारे देश के दक्षिणी अंचल में प्रवेश करने का सबसे सुगम रास्ता है। बंगोपसागर के किनारे-किनारे उस दिशा में आगे बढ़ने पर सबसे पहले दक्षिण की जिस बड़ी नदी का हमें मुहाना मिलता है वह महानदी है। इसी नदी के मुहाने के दक्षिणी छोर पर बाबा जगन्नाथ का धाम बसा है। यह तीर्थ ऊँच-नीच ब्राह्मण–चांडाल तक का भेद-भाव मिटा देने का दावा करता है। जगन्नाथ के दरबार में सब मनुष्य एक हैं। महाप्रभु चैतन्यदेव की भी यही लीलाभूमि रही है। आज भी पुरी के तट पर समुद्र दिन रात गरज-गरज कर लोगों को अपना हृदय विशाल बनाने की शिक्षा देता रहता है।

स्वयं महानदी विन्ध्या के दक्षिण पड़ोस से अपनी जीवन-यात्रा आरंभ कर मध्यप्रांत हो रायगढ़ के पास उड़ीसा

के मैदान में प्रवेश करती है। यहाँ से वह अपने काँठे को उर्वरा बनाती कटक पहुँचती है। वहाँ से समुद्र में मिलने के पहले उसकी कई धाराएँ हो जाती हैं। मुहाने पर भी मैदान का अच्छा चौड़ा हाशिया बन गया है। नदी के इसी अंचल की आबादी उसके और अंचलों की अपेक्षा अधिक घनी है। महानदी द्वारा दी गई सुविधाओं के ही कारण उस अंचल के आदमियों ने अपनी उन्नत संस्कृति के चिन्ह वहीं पर स्थाई बना रखने की चेष्टा की है।

महानदी के उपरले कांठे के उत्तर विंध्या के हृदय जैसे दीखनेवाले स्थान से ही नर्मदा का स्रोत निकलता है। उसके और पश्चिम से ताप्ती निकली है। भारतवर्ष की नदियों में नर्मदा और ताप्ती का ही यह वैचित्र्य है कि ये पूरब से निकल कर पश्चिम दिशा में बहती हैं। अरबसागर में गिरने तक इन दोनों की धाराएँ बहुत कुछ समानान्तर रहती हैं। दोनों को ही उस समुद्र की ओर का रुख़ लेने में काफ़ी संघर्ष करना पड़ता है। उनके तट के जंगल भी कम घने नहीं हैं। सिर्फ़ जब वे गुजरात में प्रवेश करती हैं और उस प्रदेश में बड़े दुर्गम रास्तों के बीच से अपने प्रवाह द्वारा खींच लाई विन्ध्या की अनूठी संपत्ति बिखेर कर उसे उर्वरा बना देती हैं तो दृश्य पलट जाता है।

मध्यप्रांत से होकर जब नर्मदा निकलती हैं तो उन्हें अपना रास्ता संगमरमर की पहाड़ियों को काट कर बनाना पड़ता है। उस कटाई के सिलसिले में स्थान-स्थान पर उन्होंने कला की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर कौशल दिखलाया है। पता नहीं, वहाँ कितने तरह की भव्य तथा सुन्दर मूर्तियाँ नर्मदा ने अपनी धारा की छेनी चलाकर निर्माण की हैं। यह अपने ढंग की एक अलग ही 'अजंता' है। चाँदनी रात में उसका सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। नाव में सवार हो नर्मदा के साथ-साथ चलने पर उसके दोनों तरफ़ की संगमरमर की पहाड़ियों और चट्टानों में अद्भुत नैसर्गिक चमक आ गई दीखती है। चारो तरफ़ शान्ति रहती है। सुनाई देती है सिर्फ़ नर्मदा की अपनी कहानी। वे शायद अपने द्वारा तैयार की गई मूर्तियों को वास्तव में ही सच्ची मान उन्हें उनके निर्माण की कहानी सुनाती हैं।

वे अपने अंचल में पहुँचनेवालों को भी, मालूम नहीं, कितने प्रकार की गाथा सुनाती होंगी। आदमी उस गाथा के शब्द नहीं समझ पाने पर उसकी झंकार ध्वनि पर मुग्ध होने से भी वे अपने को नहीं रोक पाते। उन्हें वह झंकार ऊपर के किसी और लोक से आई प्रतीत होती है। इसीलिए हमारे देशवासी स्वर्ग की झंकार सुनानेवाली उस नर्मदा का बड़ा माहात्म्य मानते हैं। उन्हें वे मध्य तथा पश्चिमी अंचल की

गंगा कहते हैं। नर्मदा की धारा भी हिमालय से निकलनेवाली गंगा की भाँति ही पवित्र मानी जाती है।

ताप्ती की धारा के पास पश्चिमघाट का उत्तरी छोर समाप्त होता है। इस कारण ताप्ती का मुहाना काफ़ी महत्त्व रखता है। पहले समुद्र-पार से आने वाले नाविकों के लिए भारत के भीतरी हिस्सों से व्यापार का वही प्रवेश-द्वार था। एक समय सूरत के बहुत संपन्न—पश्चिम भारत के शायद सबसे संपन्न नगर बन जाने का यही कारण था। उन्हीं कारणों से नर्मदा के मुहाने पर के बरोच नगर को भी ख्याति मिली थी। इन दोनों नगरों का, जिन नदियों के मुहाने पर वे बसे हैं—उस ताप्ती और नर्मदा की धाराओं के साथ गुजरात को समृद्धिशाली बनाने और गौरव प्रदान करने में बहुत अधिक हाथ रहा है।

भारत के पश्चिमी अंचल से दक्षिण जाने के मुख्य रास्तों का रुख़ भी वहाँ की नदियों ने ही निर्धारित कर दिया है। नदियों के प्रवाह के अनुसार ही वे रास्ते भी पश्चिम-उत्तर से पूरब दक्षिण दिशा लेते हैं। ज़मीन का ढाल पूरब तरफ़ रहने के कारण दक्षिण की सब बड़ी नदियाँ पूरब ही बहती हैं। पूर्वी घाट की शृंखलाओं ने उन नदियों को सागर पहुँचने का रास्ता बीचबीच में दे दिया है। अपने मुहानों पर उन सब नदियों ने अच्छा चौड़ा सब्ज़ हाशिया बना लिया है जो

खूब ऊँचाई से देखने पर किसी विशाल बाग़ की हरी-भरी क्यारियाँ जैसे दीखते हैं।

उत्तर की ओर से चलने पर ऐसी नदियों में हमें सर्वप्रथम गोदावरी मिलती हैं। इनका उद्भवस्थान नासिक के पास पश्चिमघाट में है। अरबसागर से यह स्थान बहुत अधिक दूर नहीं है। शुरू शुरू में गोदावरी का घुमाव बहुत मामूली ढंग का रहता है। ये उथली रहती हैं, पर पाट काफ़ी चौड़ा रहता है। इनके यहाँ के तट और जंगलों का सौन्दर्य राम और सीता के बनवास के दिनों से ही प्रख्यात है। बाल्मीकि, भवभूति और तुलसीदास ने उन्हें अमर बना दिया है।

जब गोदावरी अपनी यात्रा का अधिकांश पार कर पूर्वीघाट के निकट पहुँचने लगती हैं तो इन्द्रावती और शबरी आकर उनमें मिल जाती हैं। ये दोनों नाम भी रामायण के समय के ही हैं। अब भी इन्द्रावती के तट पर मर्दियान के जंगलों में भारत के सबसे प्राचीन आदिवासियों में एक—गोंड़ों का निवास है। उनकी रहन-सहन अब भी कोलभील और संतालों से भी अधिक प्राचीन ढंग की है।

इन्द्रावती और शबरी के मिल जाने पर गोदावरी की धारा अपने देश की महान नदियों जैसी चौड़ी हो जाती है। धारा के बीच में अनेक छोटे-छोटे दियारे (द्वीप) भी बन जाते हैं। जब इनकी सागर तक की यात्रा के साठ मील बाकी

रह जाते हैं तो पूरब घाट की पहाड़ियों के निकट आ जाने के कारण इनका पाट संकीर्ण होने लगता है और धारा की गहराई बढ़ने लगती है। यहाँ की पहाड़ियों के बीच रास्ता पाने के लिए इन्हें एक स्थान पर मुश्किल से दो सौ गज चौड़ा संकीर्ण पथ बनाकर निकलना पड़ता है। इस स्थान पर जब ये घूम पड़ती हैं तो इनकी धारा में प्रचंड वेग आ जाता है।

राजमन्द्री पार कर जाने पर गोदावरी अपनी भुजाएँ फैलाने लगती हैं। इनकी ये भुजाएँ नरसापुर से कोकनद तक फैली हैं। अपने मुहानों के पास ये जो डेल्टा बनाती हैं वहाँ की ज़मीन अपनी उर्वराशक्ति के लिए विख्यात है। जिस गोदावरी-तट ने एक समय राम-सीता को आश्रय दिया था वही आज भी लाखों दक्षिण निवासियों को आश्रय देता है। वही गोदावरी उन्हें सभ्यता की सीढ़ियों पर भी उत्तरोत्तर ऊपर की ओर उठाती लेती चल रही है।

गोदावरी के दक्खिन बहुत कुछ उसके समानान्तर बहनेवाली बड़ी नदी कृष्णा है। यह दक्षिण भारत को स्पष्ट दो हिस्सों में बाँट देती है। इसका उद्भवस्थान अरब सागर से सिर्फ चालीस मील की दूरी पर महाबलेश्वर के पास है। अपनी यात्रा में इससे उत्तर की ओर से आकर भीमा और मैसूर की ओर से आकर तुँगभद्रा मिल जाती हैं। भीमा,

कृष्णा और तुँगभद्रा तीनों की ही दूनें पर्वतमालाओं द्वारा चारों ओर से घिर जाती हैं। इसी कारण कृष्णा की धारा को बड़ा गहरा रास्ता काट कर आगे बढ़ना पड़ता है। पथरीली सतह पर का इनका स्रोत बहुत प्रचंड है। किसी बड़े पैमाने पर सिंचाई की व्यवस्था उनसे नहीं की जा सकती। अंत में श्रीशैल (नालमलै) की पहाड़ियों से बचने के लिए कृष्णा बहुत से चक्कर लगाती हैं और तब पहाड़ों के घिरावे से बाहर निकल आती हैं।

तुँगभद्रा और कृष्णा के बीच का दोआब दक्षिणभारत के मध्यवर्ती रास्ते पर पड़ने के कारण इतिहास में बहुत महत्त्व रखता आया है। दक्षिण के उत्तरार्द्ध और दक्षिणार्द्ध राज्यों के बीच के आधिपत्य की बहुत बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ इसी क्षेत्र में लड़ी जाती रही हैं।

कृष्णा बेजवाड़े के पास पहुँच जाने पर पूर्वीघाट पार करती हैं। यहाँ पत्थर द्वारा पानी रोक रखने की बड़ी प्राचीन व्यवस्था (ऐनिकट) अब भी बनी हुई है। वह व्यवस्था कृष्णा के स्रोत का वेग कम कर देती है। यहाँ से ही उनकी धारा से दो बड़ी नहरें निकाली जाती हैं जिनके द्वारा सवा दो लाख एकड़ से भी अधिक भूमि की सिंचाई होती है।

दक्षिण भारत की बड़ी नदियों में कावेरी सबसे दक्खिनी हैं। इन्हें—'दक्खिन की गंगा' भी कहा जाता है। मैसूर के

पश्चिम कुर्ग के पहाड़ों में उनका उद्भवस्थान है। पहाड़ों के साथ जटिल संघर्ष का पाला पड़ने के कारण इनका मार्ग उपरली दून में विकट और पथरीला रहने के साथ साथ हरियाली-विहीन है। जिन पहाड़ियों को काट कर यह अपना रास्ता निकालती हैं वे इनकी धारा के दोनों ओर दीवार से खड़े दीखते हैं। पर मैसूर में प्रवेश करने पर कावेरी की धारा खेतों की सिंचाई के काम में आने लगती है। शिव समुद्रम के पवित्र द्वीप के पास वह अपनी धारा पर आदमियों द्वारा लगाया नियंत्रण भी स्वीकार करती हैं। इस नियंत्रण द्वारा कावेरी की धारा दो भागों में विभक्त हो तीन सौ फ़ीट की ऊँचाई से गिरने वाले जलप्रपात के रूप में परिणत हो जाती है। उससे जो बिजली तैयार होती है उससे आदमियों के आधुनिक व्यवहार की चीजें तैयार करनेवाले कारखाने चलते हैं। वहाँ से आगे बढ़ने पर कावेरी पहले दक्षिण दिशा लेती हैं और तब सागर की ओर जाने के लिए सीधे पूरब घूम जाती हैं। सागर में मिलने के पहले वह तंजौर के फुलवारी जैसे सुन्दर अंचल की सृष्टि कर जाती हैं।

कावेरी के दक्षिण हमें वैगै मिलती हैं। यह मलयगिरि से निकल कर हमारे लिए सेतुबंध रामेश्वरम् तक का रास्ता बना देती हैं। यदि हम उनके काँठे से मैदान ही मैदान सीधे दक्षिण की ओर चलें तो शीघ्र ही अपने देश के दक्षिणी

सिरे के उस नाके पर पहुँच जाएँगे जहाँ कुमारी देवी का निवास है। लोगों का विश्वास है कि वे हमारे देश की रक्षा करती हैं।

कुमारी देवी के मंदिर के सामने समुद्रतट पर जो पत्थर है वहाँ बैठ कर हम मातृभूमि के चरणों की धूलि अपने सिर पर लेते हैं। हमारे तीन तरफ़ से समुद्र अपने हिलोरों का विशाल बाहुपाश फैलाए हमारी ही तरह हमारी मातृभूमि की चरणधूलि अपने मस्तक पर धारण कर लौट रहा है। वह वापस जाकर आकाश की नीलिमाओं से मिल जाता है। उसका कहीं भी ओर छोर दिखाई नहीं देता।

जब हम यहाँ से ही अपने पार किए रास्ते को देखते हैं—अपनी मातृभूमि की एक झाँकी लगाते हैं, तो हमें अपने देश की महानता का अनुभव होने लगता है। हमारा मन अनायास ही कई हज़ार मील दूर—हिमालय और उसके मंदिर सरीखे श्रृंग कैलाश की ओर दौड़ जाता है। उस योगिराज की स्मृति आने लगती है जो शास्वत हिम का शाल ओढ़े मानव कल्याण के लिए तपस्या में युगयुग से ध्रुव, अचल, ध्यानमग्न खड़े हैं। उनके और समुद्र के बीच हमारे जीवनस्रोतों का ताँता लगा है। हमारी मातृभूमि के अंग की वे ही शिराएँ हैं। उनके पावन जल से ही हमारे शरीर में रक्त का संचार होता । पहाड़ों द्वारा दान की गई सामग्री वे ही

शिरायें ढोकर लाते हैं जिनसे हमारा मांस बनता है। वही हमारी सभ्यता और संस्कृति की पथप्रदर्शिका हैं। उन्होंने ही हमारे लिए विकास का पुनीत क्षेत्र तैयार किया है। उन्हीं के हरहर, कलकल, छलूछलू, खिलूखिलू गान से हमें नित्य नए जीवन की प्रेरणा मिलती है।